



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(1): 135-138

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 14-10-2021

Accepted: 20-12-2021

Shruti Rai

Assistant Professor, Department
of Sanskrit, University of Delhi,
New Delhi, India

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मप्रबन्धन

Shruti Rai

सारांश

श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण वैश्विक स्तर पर अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। हिन्दू धर्म में इसकी महत्ता एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में है, किन्तु यह ऐसा ग्रन्थ है, जो सम्पूर्ण मानवजाति के लिये कल्याणकारी है। अद्यतन काल में गीता का अध्ययन आत्मप्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में भी हो रहा है। आत्मप्रबन्धन मनुष्य के सर्वांगीण रूप से स्वस्थ होने को अवस्था है। आत्मप्रबन्धित व्यक्ति सारे प्रकार के दुखों से छुटकारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत शोधपत्र में इसी विषय को केन्द्रबिन्दु बनाकर श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मप्रबन्धन पर परिचयात्मक स्तर पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

कूट शब्द: निष्काम कर्म, आत्मा, परमात्मा, आसक्ति, अनासक्ति, मन।

प्रस्तावना

भगवद्गीता भारतीय संस्कृति एवं दार्शनिक परम्परा की अनुपम निधि है। भगवद्गीता के विषय में एक प्रसिद्ध उक्ति है- गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः अर्थात् अकेले गीता का अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त है, शेष शास्त्रों के विस्तार से क्या करना है? इसे सारे उपनिषदों का सार कहते हैं। इस विषय में एक श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

भगवद्गीता का मुख्य वैशिष्ट्य है- श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को निष्काम कर्म का उपदेश। निष्काम कर्म का सिद्धान्त भगवद्गीता का सम्पूर्ण मानवजगत के लिये अनमोल योगदान है। यही कारण है कि भगवद्गीता का आविर्भाव भारतीय संस्कृति तथा ज्ञानपरम्परा की अभूतपूर्व घटना के रूप में देखा जाता है। भगवद्गीता की महत्ता का आकलन स्वयं श्रीकृष्ण से सम्बन्धित एक घटना से किया जाता है, जिसका वर्णन अनुगीता में है। अनुगीता की इस घटना के अनुसार, महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से एक बार पुनः भगवद्गीता सुनने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि उस समय मैंने अत्यन्त योगयुक्त अन्तःकरण से उपदेश दिया था। पुनः उसका उपदेश देना सम्भव नहीं है। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण के लिये कुछ भी असंभव नहीं है, फिर भी सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्ण मानवजाति को अर्जुन के माध्यम से यही संदेश देना चाहते हैं कि गीता जैसे महान् उपदेश का पुनरुद्भव सम्भव नहीं है।

Corresponding Author:

Shruti Rai

Assistant Professor, Department
of Sanskrit, University of Delhi,
New Delhi, India

महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत २५वें अध्याय से लेकर ४२वें अध्याय तक ७०० श्लोको में निबद्ध अंश को भगवद्गीता कहते हैं। इसमें कुल १८ अध्याय हैं। संक्षिप्त में इसे गीता कहकर भी सम्बोधित करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ है- श्रीमता भगवता गीता इति श्रीमगवद्गीता। 'गै गाने' धातु के साथ भूतकाल में निष्ठाप्रत्यय 'क्त' तथा स्त्रीलिङ्गी टाप् प्रत्यय करने पर गीता शब्द की निष्पत्ति होती है। इसप्रकार भगवान् के द्वारा गाये गये गान को श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं। सम्पूर्ण गीता किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन को श्रीकृष्ण के द्वारा उसके बुद्धि के प्रकाशनार्थ दिये गये उपदेशों का श्लोकबद्ध संग्रह है। गीता का आविर्भाव अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढता का परिणाम है। अर्जुन का परिचय एक महान् धनुर्धारी, अपराजेय एवम् अतुलनीय योद्धा के रूप में प्रसिद्ध है, जिसकी शारीरिक क्षमता असीमित है, वह महान् बुद्धि तथा असीम धैर्य का स्वामी है, अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये उसकी एकाग्रताचित्तता अपनी पराकाष्ठा पर है, अतः उसने चिडिया की एक आंख के केन्द्र को अपने बाणों का लक्ष्य अत्यन्त सरलता से बना लिया। ऐसे महान् व्यक्तित्व का स्वामी अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में शत्रुओं को अपने समक्ष देखकर युद्ध करे या न करे- इसप्रकार के द्विविधा में पड गया। उसके इस द्विविधायुक्त मनःस्थिति का कारण जय-पराजय अथवा मृत्यु आदि किसी भी प्रकार का भय नहीं था, अपितु अपने परिवारजनों, रक्तसम्बन्धियों के मोह से अभिभूत होकर वह क्षत्रिय धर्म से दिग्भ्रमित हो गया। वह अपने सगे-सम्बन्धियों से युद्ध करके उन्हे मृत्यु के द्वार तक पहुचाने का कारण नहीं बनना चाहता था। किन्तु उसे अपने कर्तव्यों का भी भान था। क्षत्रिय होने के नाते अधर्म का नाश करने के लिये युद्ध करना उसका मौलिक धर्म था। इसप्रकार से असंमजस में किसी भी निर्णय तक पहुचने में असमर्थ अर्जुन की अशान्त मनोस्थिति को समझते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को काव्यमय भाषा में गीता का उपदेश दिया था। उन्होंने अर्जुन को सुहृत्सम्मतरूप में परमज्ञान का उपदेश दिया तथा कर्मयोग के मार्ग का महत्त्व समझाया। ध्यातव्य है कि कृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश न तो उसे युद्ध में विजयप्राप्त करने हेतु प्रेरणा देने के लिए दिया और न ही यशप्राप्ति की लालसा जाग्रत करने के लिये दिया। अपितु श्रीकृष्ण का उद्देश्य है- अर्जुन को परमार्थ का ज्ञान कराकर उसके ज्ञानचक्षु को खोलना जिससे वह स्वयं अपने निर्णय लेने में सक्षम हो सके एवं कर्तव्यों के प्रति प्रेरित हो सके। अतः उन्होंने ज्ञानयोग, भक्तियोग के साथ निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।ⁱⁱ

सामान्यतया विद्वानों के द्वारा भगवद्गीता को वैदिक परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसकी विषयवस्तु किसी दर्शनविशेष, सम्प्रदाय या परम्पराविशेष से सम्बद्ध

नहीं है। श्रीकृष्ण ने भी स्वयं इसे किसी दर्शन या परम्परा से नहीं जोडा है। अतः दार्शनिक परम्पराएं अपने-अपने सम्प्रदायों की दृष्टि से इसपर टीकाएं लिखते आ रहे हैं। इन्हीं टीकाओं में से अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य की शांकरभाष्य प्राचीनतम उपलब्ध टीका है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज की गीताभाष्य, तान्त्रिक परम्परा से अभिनवगुप्त की गीतार्थसंग्रह इत्यादि टीकाएं प्रसिद्ध हैं। १९वीं शताब्दि में योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिडि की टीका, श्री अरविन्द की गीताप्रबन्ध टीकाएं आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत हैं, तथा इन सबके अनुसार गीता का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है। किन्तु बालगंगाधर तिलक की 'गीता रहस्य' टीका का अपना वैशिष्ट्य है, इनकी टीका अध्यात्मपरक न होकर प्रवृत्तिमार्ग परक है।ⁱⁱⁱ अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में वह कहते हैं कि मूल गीता निवृत्ति-प्रधान नहीं है, कर्म-प्रधान है। उनके अनुसार, प्रवृत्ति का अर्थ है, "सन्यास न लेकर मरणपर्यन्त चातुर्वर्ण्य विहित निष्काम कर्म करते रहना।" इस तथ्य की पुष्टि के लिए वह अपना मत स्पष्ट करते हैं, "गीता के अनेक प्रकार के तात्पर्य कहे गये हैं। पहला तो स्वयं महाभारतकार ने भागवत धर्मानुसार अर्थात् प्रवृत्ति विषयक तात्पर्य बतलाया है। इसके बाद अनेक पंडित, आचार्य, कवि, योगी और भक्तजनों ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार शुद्ध निवृत्ति विषयक तात्पर्य बतलाये हैं।" अतः उनके अनुसार श्रीकृष्ण का गीतोपदेश मूलतः प्रवृत्तिप्रधान है, जिसपर परवर्ती दार्शनिकों एवं विद्वानों ने अध्यात्मपरक टीकाएं लिखीं हैं। उन्नीसवीं सदी के संस्कृतज्ञ बलदेव उपाध्याय 'भारतीय दर्शन' नामक स्वरचित ग्रन्थ में कहते हैं कि गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है। वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिये गीता योगशास्त्र कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में से एक अर्थ 'व्यवहार' है। इनके अनुसार, योग का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। वह अपनी बात को इसप्रकार समझाते हैं- "गीता व्यवहारशास्त्र है, जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढभूमि पर अवस्थित है।...यह योगशास्त्र कर्तव्यशास्त्र है, जो अपने खडे होने के लिए ब्रह्मविद्या के दृढ आधार पर आश्रित है।...गीता संसार से भागने का उपदेश नहीं देती है, प्रत्युत संसार में डटकर खडा होने, अपनी विषम परिस्थिति से जूझने तथा अन्त में विजय पाने की उदात्त शिक्षा गीता हमें सर्वदा देती है। इसलिए गीता का आकर्षण सार्वभौम तथा सार्वकालिक है- सब समयों के लिए, सब परिस्थितियों के लिए, सब मानवों के लिए इसका उपदेश समान रूप से उपयोगी है।" योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिडि अपने ग्रन्थ

में कहते हैं कि कुरुक्षेत्र के दो पक्ष हैं- एक धर्म या निवृत्ति का पक्ष और दूसरा अधर्म या प्रवृत्ति का पक्ष। धर्म के साथ अधर्म अथवा प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति के युद्ध का इतिहास ही मानव-जीवन है। दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् उमेश मिश्र ने भी स्वरचित ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में लिखा है, "अर्जुन को अपने कर्तव्य अर्थात् दुष्टों का नाश करने के लिये युद्ध करने का उपदेश भगवान् ने तीनप्रकार से दिया है- पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक।" इसप्रकार, यद्यपि अधिकांश विद्वान् गीता को अध्यात्म की नींव पर स्थापित मानते हैं किन्तु एक तथ्य पर विद्वानों में सर्वसम्मति है कि भगवद्गीता सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनों मार्गों के लिये समानभाव से उपयोगी है। इसका उपदेश आचारमीमांसा की नींव पर विकसित है, जो किसी भी मार्गविशेष, विशेषवर्ग को अतिक्रान्त करके सम्पूर्ण मानव जाति के लिये अत्युपयोगी है।

आत्मप्रबन्धन शब्द का अर्थ है- आत्म अर्थात् स्वयं का प्रबन्धन। सामान्यता आत्मा शब्द का अर्थ होता है- जीवात्मा तथा परमात्मा। आत्मप्रबन्धन के प्रसंग में आत्मा शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं- अन्तःकरण, जीवात्मा। सामान्यतया अन्तःकरण में मन, अहंकार और बुद्धि इन तीनों का ग्रहण होता है। अतः इन अर्थों के आधार पर आत्मप्रबन्धन कई स्तर पर घटित होने वाली प्रक्रिया है जैसे- मन का नियन्त्रण तथा उसकी एकाग्रता, बुद्धि की विवेकशीलता, अहंकार का दमन, आत्मा की असंगता- यह सब विभिन्न स्तरों पर घटित होने वाली आत्मप्रबन्धन की प्रक्रिया है। इस सन्दर्भ में एक और तत्त्व है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह है परमात्मा। अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां, आत्मा तथा परमात्मा- ये आत्मप्रबन्धान् के केन्द्रिय प्रत्यय हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा आत्मप्रबन्धन को आचारशास्त्र में प्रमुख स्थान देती है। शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही मोक्ष जैसे दुःसाध्य लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसंग में संक्षेप में 'स्वस्थ' शब्द भी विचारणीय है, क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही आत्मप्रबन्धन में सफल हो सकता है। भारतीय चिकित्सा परम्परा में भी स्वस्थ मनुष्य की परिभाषा के अनुसार दैहिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक रूप से किसी भी प्रकार की समस्या से ग्रसित न होना स्वस्थ होने का लक्षण है। स्वास्थ्य मुख्यतः तीन स्तर पर विचारणीय है- शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। आध्यात्मिक स्वास्थ्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य की आधारशीला है। यह 'आन्तरिक स्वास्थ्य' पर आधारित है, जिसमें मन, इन्द्रियां एवम् आत्मा सभी का स्वस्थ होना आवश्यक है। बाह्य स्वास्थ्य आन्तरिक

स्वास्थ्य का प्रतिबिम्ब है। आयुर्वेद में स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा है-

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रिया।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थः इत्यभिधीयते॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के वात, पित्त, कफ नामक त्रिविध दोष समान अर्थात् संतुलित हों, अग्नि संतुलित हो, सात धातुएं संतुलित हों एवं मन, इन्द्रियां और आत्मा प्रसन्न हो, वह व्यक्ति स्वस्थ है।

आत्मप्रबन्धन आत्मानुशासन की प्रक्रिया है। आत्मानुशासन के बिना किसी भी प्रकार का लक्ष्य प्राप्त करना सम्भव नहीं है। यह अनुशासन ऐसा होना चाहिए जिससे हमारी आत्मा का हमारी ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा इच्छाओं पर नियन्त्रण हो सके। आत्मानुशासित व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहता है। आत्मप्रबन्धन आध्यात्मिकता के शिखर का प्रथम सोपान है। ध्यातव्य है कि आध्यात्मिकता किसी एक अवस्था को त्यागकर किसी नये अवस्था में प्रवेश करने की प्रक्रिया नहीं है अपितु यह 'स्व में स्थित रहने की' अवस्था है। 'स्व में स्थित' होने का तात्पर्य है कि अपने सत्य स्वरूप में रहना। यह किसी भी व्यक्ति के लिए अध्यात्म की पराकाष्ठा है। यही मोक्ष है। किन्तु संसार का प्रत्येक व्यक्ति मोक्षाभिलाषी नहीं हो सकता, विशेषकर अद्यतनकाल के भौतिकवादी विश्व में। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आध्यात्मिका की वर्तमानकाल में प्रासंगिकता समाप्त हो गई है। अपितु इस यान्त्रिकी एवं शुद्धभौतिक विश्व में आध्यात्मिकता की आवश्यकता बढ गई है। इसका कारण यह है कि लगभग प्रत्येक मनुष्य तनावग्रस्त, अवसादग्रस्त जीवन जीने को बाध्य है। उसका मन अनियन्त्रित हो चुका है। वह अनन्त इच्छाओं का पूर्णतया दास बन चुका है फलस्वरूप अनवरत रूप से उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास करता रहता है। किन्तु इन इच्छाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयासों का कोई अवसान नहीं होता है। जब कभी यथा वाञ्छित फल की प्राप्ति नहीं होती है, तो उस प्रतिकूल परिस्थिति में अपार दुख का अनुभव होता है। मन पहले से और ज्यादा व्यथित रहने लगता है। यदि वाञ्छित फल की प्राप्ति हो जाती है, तो मनुष्य सुख की अनुभूति प्राप्त करता है। किन्तु समस्या यह है कि यह सुख भी स्थायी नहीं होता। जिस इष्ट की प्राप्ति के लिए हम निरन्तर उद्यमशील रहते हैं, उसके प्राप्त होने के बाद हम किसी नवीन उपभोग्य वस्तु की प्राप्ति में तत्पर हो जाते हैं, उस स्थिति में प्रथम प्राप्त वस्तु की

महत्ता या तो समाप्त हो जाती है, या फिर कम हो जाती है। और कई बार वह त्याज्य भी हो जाती है। अतः एक ही वस्तु सुख और दुख दोनों का कारण होती है। गीता में भी यही बात कहते हैं कि जो ये इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले भोग है, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी दुख के ही हेतु हैं, और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य है। गीता में भी कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥५.२२॥

इसप्रकार सदैव सुख प्राप्त करने की लालसा से उसके पीछे भागने वाला व्यक्ति सदैव एक रिक्त भाव के साथ जीवित रहता है। वह आत्मिक रूप से अस्थिर रहता है, फलस्वरूप किसी भी कार्य का सफलतापूर्वक सम्पादन उसके लिये कठिन होता है। व्यक्तिगत जीवन तथा कार्यक्षेत्र में कुशल प्रबन्धक बनना उस व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर होता है, क्योंकि वह अपने जीवन पर नियन्त्रण नहीं रख पाता है। सुख, शान्ति, आनन्द के लिये वह सदैव बाह्य परिस्थितियों का दास बना रहता है। अन्ततः वह अवसाद का शिकार होकर शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा भोगते हुए अपने शरीर का त्याग कर देता है। भारतीय दर्शन के अनुसार, उसका यह दुख यहीं समाप्त नहीं होता है, वह पुनः एक नवीन शरीर धारण करके सृष्टि में जन्म लेकर वैसे ही जीवन व्यतीत करता है। और ऐसे ही जन्म-जन्मान्तरों तक संघर्ष करता रहता है। इन विषम परिस्थितियों से लड़ने के लिये उसके पास केवल एक उपाय रहता है, कि वह अपनी इच्छाओं से स्वतन्त्र हो जाये तथा उनपर पूर्ण नियन्त्रण कर ले। यह स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण तभी सम्भव है जब व्यक्ति आत्मप्रबन्धन की कला का पालन करने लग जाये। आत्मप्रबन्धित व्यक्ति यह भली-भाति समझता है, कि संसार में उसका स्वयं के अतिरिक्त किसी पर भी नियन्त्रण सम्भव नहीं है, न ही घटनाओं पर, न ही किसी अन्य व्यक्ति-वस्तु के ऊपर। वह यह भी समझता है कि सुख-दुख कुछ भी स्थायी नहीं रहता है। अतः किसी भी परिस्थिति में उसे अधीर नहीं होना चाहिए। दोनों में ही समभाव से रहना चाहिये। उसे प्रतिकूल एवं दुखद स्थितियों का डटकर सहनशीलता के साथ सामना करना चाहिये। वह अपने लक्ष्य-प्राप्ति के लिये निरन्तर श्रद्धाभाव से प्रयत्न करते रहना चाहिये। सफलता के साथ साथ असफलता का सामना करने के लिये भी सहजता से तैयार रहना चाहिये। इस दृष्टि से गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग आत्मप्रबन्धन का ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक

रूप से किसी भी मानवीय परिस्थिति के लिये उपादेय है। निष्काम कर्म का सिद्धान्त एक स्वस्थ एवं प्रसन्न जीवन जीने की शैली की मार्गनिर्दर्शन करता है। ऐसे व्यक्ति के लिये सफलता या असफलता दोनों एकसमान है। वह कभी भी स्वयं पर से नियन्त्रण खोकर विचलित नहीं होता है। आत्मप्रबन्धन को जीवन जीने की कला भी कह सकते हैं क्योंकि जैसे जैसे व्यक्ति इसका अभ्यास दृढतर रूप में करने लगता है, आत्मानुशासन में उसे आनन्द आने लगता है। आत्मनिर्भरता तथा स्वतन्त्रता सर्वदा आनन्द तथा शान्ति का जनक होते हैं। यह कोई नीरस जीवन जीने की शैली नहीं है, अपितु इच्छा-स्वातन्त्र्य से युक्त होकर आत्मनिर्भरता से भरपूर, सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ तथा आनन्दित मनुष्य का लक्षण है, जो अपने प्रत्येक दायित्व का निर्वाह करने में समर्थ है। भारतीय शास्त्रों में आत्मप्रबन्धन नामक कोई स्वतन्त्र विषय नहीं है, अपितु आचारशास्त्र के अन्तर्गत उस पर सूक्ष्म रूप से विचार किया जाता है। ध्यातव्य है कि दार्शनिक परम्पराओं के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र में भी आत्मप्रबन्धन के विषयों पर विशद चर्चा होती है। अतः आत्मप्रबन्धन भारतीय ज्ञान परम्परा का अभिन्न अंग है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Gita with Hindi Translation, Gita Press, Gorakhpur. 2005.
2. Bhagavad Gita Bhasya of Sri Shankaracarya with text and English translation, Sri Ramkrishan Math, Madras. 2009.
3. Radhakrishnan S. The Bhagavadgita, Harper Element, Delhi 2018.
4. श्रीअरविन्द, गीताप्रबन्ध, श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 2017

ⁱ भगवद्गीता, 2.5: गुरुनहत्वा हि महानुभावा-

ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव

भुञ्जीय भोगान्नुधिरप्रदिग्धान्॥

ⁱⁱ Ibid, 3.3: लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघः।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।

ⁱⁱⁱ तिलम, बालगंगाधर, गीतारहस्य, प्रस्तावना